सरोज स्मृति

ऊनविंश पर जो प्रथम चरण

तेरा वह जीवन-सिंधु-तरण;

तनय, ली कर दृक्-पात तरुण

जनक से जन्म की विदा अरुण!

गीते मेरी, तज रूप-नाम

वर लिया अमर शाश्वत विराम

पूरे कर शुचितर सपर्याय

जीवन के अष्टादशाध्याय,

चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण-चरण

कह—"पितः, पूर्ण आलोक वरण

करती हूँ मैं, यह नहीं मरण,

'सरोज' का ज्योतिःशरण—तरण—

अशब्द अधरों का, सुना, भाष,

मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश

मैंने कुछ अहरह रह निर्भर

ज्योतिस्तरणा के चरणों पर।

जीवित-कविते, शत-शर-जर्जर

छोड़कर पिता को पृथ्वी पर

तू गई स्वर्ग, क्या यह विचार—

"जब पिता करेंगे मार्ग पार

यह, अक्षम अति, तब मैं सक्षम,

तारूँगी कर गह दुस्तर तम?"

कहता तेरा प्रयाण सविनय,—

कोई न अन्य था भावोदय।

श्रावण-नभ का स्तब्धांधकार

शुक्ला प्रथमा, कर गई पार!

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,

कुछ भी तेरे हित न कर सका।

जाना तो अर्थागमोपाय

पर रहा सदा संकुचित-काय

लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर

हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।

शुचिते, पहनाकर चीनांशुक

रख सका न तुझे अतः दधिमुख।

क्षीण का न छीना कभी अन्न,

मैं लख न सका वे दृग विपन्न;

अपने आँसुओं अतः बिंबित

देखे हैं अपने ही मुख-चित।

सोचा है नत हो बार-बार—

"यह हिंदी का स्नेहोपहार,

यह नहीं हार मेरी, भास्वर

वह रत्नहार—लोकोत्तर वर।

अन्यथा, जहाँ है भाव शुद्ध

साहित्य-कला-कौशल-प्रबुद्ध,

हैं दिए हुए मेरे प्रमाण

कुछ वहाँ, प्राप्ति को समाधान,—

पार्श्व में अन्य रख कुशल हस्त

गद्य में पद्य में समाभ्यस्त।

देखें वे; हँसते हुए प्रवर

जो रहे देखते सदा समर,

एक साथ जब शत घात घूर्ण

आते थे मुझ पर तुले तूर्ण।

देखता रहा मैं खड़ा अपल

वह शर क्षेप, वह रण-कौशल।

व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्कल

ऋद्ध युद्ध का रुद्ध-कंठ फल।

और भी फलित होगी वह छवि,

जागे जीवन जीवन का रवि,

लेकर, कर कल तूलिका कला,

देखो क्या रंग भरती विमला,

वांछित उस किस लांछित छवि पर

फेरती स्नेह की कूची भर।

अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम

कर नहीं सका पोषण उत्तम

कुछ दिन को, जब तू रही साथ,

अपने गौरव से झुका माथ।

पुत्री भी, पिता-गेह में स्थिर,

छोड़ने के प्रथम जीर्ण अजिर।

आँसुओं सजल दृष्टि की छलक,

पूरी न हुई जो रही कलक

प्राणों की प्राणों में दबकर

कहती लघु-लघु उसाँस में भर;

समझता हुआ मैं रहा देख

हटती भी पथ पर दृष्टि टेक।

तू सवा साल की जब कोमल;

पहचान रही ज्ञान में चपल,

माँ का मुख, हो चुंबित क्षण-क्षण,

भरती जीवन में नव जीवन,

वह चरित पूर्ण कर गई चली,

तू नानी की गोद जा पली।

सब किए वहीं कौतुक-विनोद

उस घर निशि-वासर भरे मोद;

खाई भाई की मार, विकल

रोई, उत्पल-दल-दृग-छलछल;

चुमकारा सिर उसने निहार,

फिर गंगा-तट-सैकत विहार

करने को लेकर साथ चला,

तू गहकर चली हाथ चपला;

आँसुओं धुला मुख हासोच्छल,

लखती प्रसार वह ऊर्मि-धवल।

तब भी मैं इसी तरह समस्त,

कवि जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त;

लिखता अबाध गति मुक्त छंद,

पर संपादकगण निरानंद

वापस कर देते पढ़ सत्वर

दे एक–पंक्ति–दो में उत्तर।

लौटी रचना लेकर उदास

ताकता हुआ मैं दिशाकाश

बैठा प्रांतर में दीर्घ प्रहर

व्यतीत करता था गुन–गुन कर

संपादक के गुण; यथाभ्यास

पास की नोचता हुआ घास

अज्ञात फेंकता इधर–उधर

भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

याद है दिवस की प्रथम धूप

थी पड़ी हुई तुझ पर सुरूप,

खेलती हुई तू परी चपल,

मैं दूरस्थित प्रवास से चल

दो वर्ष बाद, होकर उत्सुक

देखने के लिए अपने मुख

था गया हुआ, बैठा बाहर

आँगन में फाटक के भीतर

मोढ़े पर, ले कुंडली हाथ

अपने जीवन की दीर्घ गाथ।

पढ़, लिखे हुए शुभ दो विवाह

हँसता था, मन में बढ़ी चाह

खंडित करने को भाग्य-अंक,

देखा भविष्य के प्रति अशंक।

इससे पहले आत्मीय स्वजन

सस्नेह कह चुके थे, जीवन

सुखमय होगा, विवाह कर लो।

जो पढ़ी-लिखी हो—सुंदर हो।

आए ऐसे अनेक परिणय,

पर विदा किया मैंने सविनय

सबको, जो अड़े प्रार्थना भर

नयनों में, पाने को उत्तर

अनुकूल, उन्हें जब कहा निडर—

“मैं हूँ मंगली”, मुड़े सुनकर।

इस बार एक आया विवाह

जो किसी तरह भी हतोत्साह

होने को न था, पड़ी अड़चन,

आया मन में भर आकर्षण

उन नयनों का; सासु ने कहा—

“वे बड़े भले जन हैं, भय्या,

एन्ट्रेंस पास है लड़की वह,

बोले मुझ से, छब्बिस ही तो

वर की है उम्र, ठीक ही है,

लड़की भी अट्ठारह की है।”

फिर हाथ जोड़ने लगे, कहा—

"वे नहीं कर रहे ब्याह, अहा!

हैं सुधरे हुए बड़े सज्जन!

अच्छे कवि, अच्छे विद्वज्जन!

हैं बड़े नाम उनके! शिक्षित

लड़की भी रूपवती, समुचित

आपको यही होगा कि कहें

‘हर तरह उन्हें, वर सुखी रहें।’

आएँगे कल।” दृष्टि थी शिथिल,

आई पुतली तू खिल–खिल–खिल

हँसती, मैं हुआ पुनः चेतन,

सोचता हुआ विवाह–बंधन।

कुंडली दिखा बोला—"ए-लो"

आई तू, दिया, कहा "खेलो!"

कर स्नान-शेष, उन्मुक्त-केश

सासुजी रहस्य-स्मित सुवेश

आई करने को बातचीत

जो कल होने वाली, अजीत;

संकेत किया मैंने अखिन्न

जिस ओर कुंडली छिन्न-भिन्न,

देखने लगीं वे विस्मय भर

तू बैठी संचित टुकड़ों पर!

धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,

बाल्य की केलियों का प्रांगण

कर पार, कुंज-तारुण्य सुघर

आई, लावण्य-भार थर-थर

काँपा कोमलता पर सस्वर

ज्यों मालकौश नव वीणा पर;

नैश स्वप्न ज्यों तू मंद-मंद

फूटी ऊषा—जागरण-छंद;

काँपी भर निज आलोक-भार,

काँपा वन, काँपा दिक् प्रसार।

परिचय-परिचय पर खिला सकल—

नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय-दल।

क्या दृष्टि! अतल की सिक्त-धार

ज्यों भोगावती उठी अपार,

उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील

जल टलमल करता नील-नील,

पर बँधा देह के दिव्य बाँध,

छलकता दृगों से साध-साध।

फूटा कैसा प्रिय कंठ-स्वर

माँ की मधुरिमा व्यंजना भर।

हर पिता-कंठ की दृप्त-धार

उत्कलित रागिनी की बहार!

बन जन्मसिद्ध गायिका, तन्वि,

मेरे स्वर की रागिनी वह्नि

साकार हुई दृष्टि में सुघर,

समझा मैं क्या संस्कार प्रखर।

शिक्षा के बिना बना वह स्वर

है, सुना न अब तक पृथ्वी पर!

जाना बस, पिक–बालिका प्रथम

पल अन्य नीड़ में जब सक्षम

होती उड़ने को, अपना स्वर

भर करती ध्वनित मौन प्रांतर।

तू खिंची दृष्टि में मेरी छवि,

जागा उर में तेरा प्रिय कवि,

उन्मनन–गुंज सज हिला कुंज

तरु–पल्लव कलि–दल पुंज–पुंज,

बह चली एक अज्ञात बात

चूमती केश—मृदु नवल गात,

देखती सकल निष्पलक–नयन

तू, समझा मैं तेरा जीवन।

सासु ने कहा लख एक दिवस—

“भैया अब नहीं हमारा बस,

पालना–पोसना रहा काम,

देना ‘सरोज’ को धन्य–धाम,

शुचि वर के कर, कुलीन लखकर,

है काम तुम्हारा धर्मोत्तर;

अब कुछ दिन इसे साथ लेकर

अपने घर रहो, ढूँढ़कर वर

जो योग्य तुम्हारे, करो ब्याह

होंगे सहाय हम सहोत्साह।”

सुनकर, गुनकर चुपचाप रहा,

कुछ भी न कहा, न अहो, न अहा,—

ले चला साथ मैं तुझे, कनक

ज्यों भिक्षुक लेकर; स्वर्ण-झनक

अपने जीवन की, प्रभा विमल

ले आया निज गृह-छाया-तल।

सोचा मन में हत बार-बार—

‘ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगार

खाकर पत्तल में करें छेद,

इनके कर कन्या, अर्थ खेद;

इस विषय-बेलि में विष ही फल,

यह दग्ध मरुस्थल,—नहीं सुजल।'

फिर सोचा—‘मेरे पूर्वजगण

गुजरे जिस राह, वही शोभन

होगा मुझको, यह लोक-रीति

कर दें पूरी, गो नहीं भीति

कुछ मुझे तोड़ते गत विचार;

पर पूर्ण रूप प्राचीन भार

ढोने में हूँ अक्षम; निश्चय

आएगी मुझमें नहीं विनय

उतनी जो रेखा करे पार

सौहार्द–बंध की, निराधार।

वे जो जमुना के–से कछार

पद, फटे बिवाई के, उधार

खाए के मुख ज्यों, पिए तेल

चमरौधे जूते से सकेल

निकले, जी लेते, घोर–गंध,

उन चरणों को मैं यथा अंध,

कल घ्राण–प्राण से रहित व्यक्ति

हो पूजूँ, ऐसी नहीं शक्ति।

ऐसे शिव से गिरिजा–विवाह

करने की मुझको नहीं चाह।'

फिर आई याद—मुझे सज्जन

है मिला प्रथम ही विद्वज्जन

नवयुवक एक, सत्साहित्यिक,

कुल कान्यकुब्ज, यह नैमित्तिक

होगा कोई इंगित अदृश्य,

मेरे हित है हित यही स्पृश्य

अभिनंदनीय। बंध गया भाव,

खुल गया हृदय का स्नेह-स्राव;

खत लिखा, बुला भेजा तत्क्षण,

युवक भी मिला प्रफुल्ल, चेतन।

बोला मैं—"मैं हूँ रिक्त हस्त

इस समय, विवेचन में समस्त—

जो कुछ है मेरा अपना धन

पूर्वज से मिला, करूँ अर्पण

यदि महाजनों को, तो विवाह

कर सकता हूँ; पर नहीं चाह

मेरी ऐसी, दहेज देकर

मैं मूर्ख बनूँ, यह नहीं सुघर,

बारात बुलाकर मिथ्या व्यय

मैं करूँ, नहीं ऐसा सुसमय।

तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम

मैं सामाजिक योग के प्रथम,

लग्न के, पढ़ूँगा स्वयं मंत्र

यदि पंडितजी होंगे स्वतंत्र।

जो कुछ मेरा, वह कन्या का,

निश्चय समझो, कुल धन्या का।"

आए पंडितजी, प्रजावर्ग

आमंत्रित साहित्यिक, ससर्ग

देखा विवाह आमूल नवल;

तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।

देखती मुझे तू, हँसी मंद,

होठों में बिजली फँसी, स्पंद

उर में भर झूली छबि सुंदर,

प्रिय की अशब्द शृंगार-मुखर

तू खुली एक उच्छ्वास-संग,

विश्वास-स्तब्ध बंध अंग-अंग,

नत नयनों से आलोक उतर

काँपा अधरों पर थर-थर-थर।

देखा मैंने, वह मूर्ति-धीति

मेरे वसंत की प्रथम गीति—

शृंगार, रहा जो निराकार

रस कविता में उच्छ्वसित–धार

गाया स्वर्गीया–प्रिया–संग

भरता प्राणों में राग–रंग

रति–रूप प्राप्त कर रहा वही,

आकाश बदलकर बना मही।

हो गया ब्याह, आत्मीय स्वजन

कोई थे नहीं, न आमंत्रण

था भेजा गया, विवाह–राग

भर रहा न घर निशि–दिवस–जाग;

प्रिय मौन एक संगीत भरा

नव जीवन के स्वर पर उतरा।

माँ की कुल शिक्षा मैंने दी,

पुष्प–सेज तेरी स्वयं रची,

सोचा मन में—'वह शकुंतला,

पर पाठ अन्य यह, अन्य कला।'

कुछ दिन रह गृह, तू फिर समोद,

बैठी नानी की स्नेह–गोद।

मामा–मामी का रहा प्यार,

भर जलद धरा को ज्यों अपार;

वे ही सुख-दु:ख में रहे न्यस्त,

तेरे हित सदा समस्त, व्यस्त;

वह लता वहीं की, जहाँ कली

तू खिली, स्नेह से हिली, पली;

अंत भी उसी गोद में शरण

ली, मूँदे दृग वर महामरण!

मुझ भाग्यहीन की तू संबल

युग वर्ष बाद जब हुई विकल,

दु:ख ही जीवन की कथा रही,

क्या कहूँ आज, जो नहीं कही!

हो इसी कर्म पर वज्रपात

यदि धर्म, रहे नत सदा माथ

इस पथ पर, मेरे कार्य सकल

हों भ्रष्ट शीत के-से शतदल!

कन्ये, गत कर्मों का अर्पण

कर, करता मैं तेरा तर्पण!